# तित्थयर

पंचदश वर्ष : अगस्त १९९१ : चतुर्थ अंक

जैन भवन

आ श्री
श्री महावीर
जि. गांधीनगर

# तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र

वर्ष १५ : अंक ४

अगस्त १९९१

□

संपादन

गणेश ललवानी

राजकुमारी बेगानी

□

आजीवन : एक सो एक

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक

जैन भवन

पी-२५ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७००००७

□

मुद्रक

सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स

२०५ रवीन्द्र सरणी

कलकत्ता-७

## सूची

भारतीय जीवन-महानद के दो किनारे ९९

पंच परमेष्ठी पद निर्युक्ति १०७

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र ११४

संकलन १२५

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या १२७

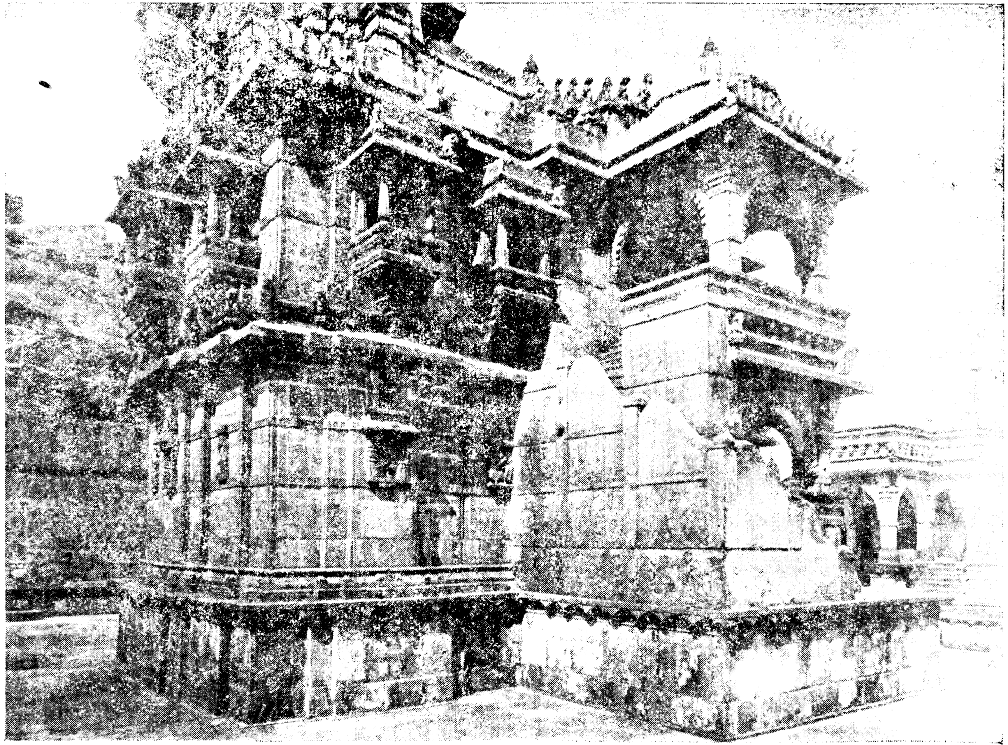

वलभाई मन्दिर, शत्रुंजय

# भारतीय जीवन-महानद के दो किनारे

स्व० श्री सत्यदेव विद्यालंकार

इतिहास और विज्ञान दोनों भारतीय जनता के इस विश्वास का समर्थन करते हैं कि सृष्टि के आरम्भकाल से भारतीय जीवन का शुभ श्रीगणेश हुआ है। धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध में कितना भी मतभेद क्यों न हो, परन्तु इस बारे में मतभेद की गुंजाइश बहुत कम है कि मानव जीवन और उसके व्यवहार का नियंत्रण करने वाले दो मुख्य तत्व धर्म और संस्कृति हैं। यह कहना अधिक यथार्थ होगा कि धर्म का सम्बन्ध दार्शनिक सिद्धांतों के साथ अपेक्षाकृत अधिक है और जब वे सिद्धान्त मानव जीवन तथा व्यवहार में क्रियात्मक रूप धारण करते हैं, तब उनका नियंत्रण करने वाले तत्व को संस्कृति कह दिया जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि धर्म मानव जीवन के लिए राह दिखाता है और उस पर चलने की प्रेरणा संस्कृति प्रदान करती है। लोकव्यवहार के नियम धर्म बनाता है और संस्कृति उनके अनुसार उसका नियंत्रण करती है।

## भारतीय जीवन का प्रवाह

भारतीय जीवन का प्रवाह सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक जिस प्रकार चलता आ रहा है, उसको देखते हुए उसकी उपमा एक महानद से ही दी जा सकती है। गंगा-जमुना सरीखी नदियों की तरह भारतीय जीवन के महानद का प्रवाह भी कुछ ऐसा है कि उसका आदि बताना कठिन है। उस प्रवाह का नियम और नियंत्रण करने वाले जो दो किनारे हैं उनको वैदिक और श्रमण नाम दिया गया है। दोनों किनारों में कुछ ऐसा स्वाभाविक अन्तर है कि दोनों एक दूसरे के समानान्तर चलते हैं। उनमें मेल कहीं भी दीख नहीं पड़ता। यह अन्तर कुछ ऐसा स्वाभाविक है कि यदि वह मिट जाय तो नदी के प्रवाह का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाय और मानव जीवन के लिए एक बड़ा संकट उपस्थित हो जाय। यह भी स्वीकार करना होगा कि दोनों किनारों में विद्यमान यह अन्तर विरोधात्मक नहीं है, प्रत्युत एक दूसरे का पूरक है। दोनों की स्थिति एक दूसरे की सहायक है। यद्यपि महाभाष्यकार पतंजलि ने दोनों के अन्तर को शाश्वत विरोध का नाम दिया है। यह कहा है कि वैदिक और श्रमण में परस्पर वैसा ही विरोध है, जैसा कि नकुल और सर्प तथा गाय और व्याघ्र में पाया जाता है। महाभाष्यकार पतंजलि का

यह कथन दोनों के यथार्थ स्वरूप का बोधक समझा जाना चाहिये। वह विरोध वैसा ही है, जैसा कि नदी के दो किनारों में पाया जाता है। लेकिन, उसको वैसा विरोधात्मक नहीं माना जाना चाहिए, जो एक दूसरे के सर्वथा विपरीत हों और एक दूसरे के अस्तित्व के लिए घातक हों। इसीलिए तो विभिन्न धर्मों तथा संस्कृतियों के सम्बन्ध में समन्वयात्मक दृष्टि का अपनाया जाना अधिक अभीष्ट है और विरोधात्मक दृष्टि त्याज्य है। उनका तुलनात्मक अध्ययन भी दोनों के यथार्थ रूप को समझने के लिए ही किया जाना चाहिए। विरोध, वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष और कलह पैदा करनेकी दृष्टि से किया गया तुलनात्मक अध्ययन उपादेय और ग्राह्य नहीं होना चाहिए। प्रस्तुत लेख में दोनों किनारों में से केवल एक की ही चर्चा यहाँ की जा रही है और प्रसंगवश सामान्यरूप में कुछ तुलनात्मक चर्चा भी आवश्यक है।

धर्म का सांस्कृतिक रूप

जैन धर्म लोकजीवन का नियमन करते हुए जब उसका नियंत्रण करता है, तब उसका विशुद्ध सांस्कृतिक रूप निखर आता है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि जैनधर्म दार्शनिक सिद्धांतों की उतनी अपेक्षा नहीं रखता, जितनी अपेक्षा उसको अपने उस सांस्कृतिक रूप की है, जो लोकजीवन के व्यवहार के माध्यम से प्रकट होता है। उसके इस सांस्कृतिक रूप का निखार मानव जीवन के युगों-युगों के प्रयोगात्मक परिष्कार का परिणाम है। परिष्कार की इस प्रक्रिया का सूत्रपात सृष्टि के प्रारम्भकाल में हुआ और भगवान महावीर तक वह प्रक्रिया निरन्तर व सतत चलती रही। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने लोकव्यवहार की जो मर्यादा स्थिर की, उसमें परिवर्धन निरन्तर होते गए। इसीलिए तो उनके बाद से भगवान महावीर के समय तक कुल २४ तीर्थंकरों का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है और वे सब लोकव्यवहार की मर्यादा का निरन्तर परिष्कार करते रहे हैं। भगवान ऋषभदेव ने मानव जीवन के नियमन और नियंत्रण के लिए साम्य भावना को विशेष महत्व दिया। साम्य भावना को ही गीता में आत्मौपम्य दृष्टि कहा गया है और गीता का समत्व योग भी साम्यभावना का ही समर्थक है। साम्यभावना के बिना मानव जीवन का व्यवहार निभ ही नहीं सकता। परन्तु साम्य भावना को सब कुछ मानकर उससे सन्तुष्ट हो सकना भी सम्भव न हो सका। इस साम्य भावना में से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आदि तत्वों का विकास क्रमशः हुआ और उनको विकसित करने का

श्रेय है विभिन्न समयों में प्रकट होने वाले तीर्थंकरों को। ये सब भावनात्मक तत्व एक को दूसरे का पूरक किया है और उनकी पूर्णता से ही मानव जीवन के लोकव्यवहार को पूर्णता प्राप्त होना सम्भव हो सका है। साम्यमूलक भावना को परिपूर्ण करने के लिए अहिंसा की आवश्यकता अनुभव की गई। अहिंसा भावना के लिए सत्य का आश्रय लेना आवश्यक हो गया। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए अस्तेय का सहारा आवश्यक था। अस्तेय भावना की पूर्णता के लिए ब्रह्मचर्य के रूप में इन्द्रिय निग्रह आवश्यक समझा गया और इन्द्रिय-निग्रह अथवा ब्रह्मचर्य के लिए ही अपरिग्रह का पालन अनिवार्य बन गया। इस प्रकार ये पाँचों व्रत मानव जीवन के लोक व्यवहार की पूर्णता के लिए आधारभूत तत्व बन गए और उसकी परिपूर्णता के लिए उनको महाव्रतों का नाम दिया गया। महाव्रतों का पालन करनेवाले यति मुनि अथवा साधु के जीवन को मानव जीवन की पूर्णता का यहाँ तक प्रतीक माना गया कि उसको 'भगवान' मानकर पूजा जाने लगा। यह पूजा वस्तुतः आत्म साधना की पूर्णता की ही पूजा है। मानव जीवन के व्यवहार में इन तत्वों का समावेश जिस प्रक्रिया से हुआ, उसी से उस धर्म का परिष्कार अथवा निखार हुआ, जिसको जैन धर्म कहा जाता है। इस प्रकार जैनधर्म को ऐसा धर्म मानना चाहिए, जो सदा ही परिवर्धनशील होने के कारण विकासोन्मुख रहा।

### सिद्धान्त और जीवन व्यवहार

इसीलिए हमारी मान्यता यह है कि जैनधर्म अपने विशुद्ध रूप में संस्कृति प्रधान धर्म है। उसको उन धर्मों की तरह सिद्धान्त-प्रधान नहीं कहना चाहिए, जो लोक-व्यवहार से उदासीन रहकर केवल सिद्धान्तों की दार्शनिक मीमांसा की भूल-भुलैया में भटकते रहते हैं और साधारण बुद्धि मानव के लिए गूढ़ पहेली बनकर रह जाते हैं। इसी कारण जैनधर्म मुख्यतया न तो शास्त्रपरक है, न व्यक्तिपरक है, न चमत्कारपरक है और न कालपरक है। अन्य धर्मों की स्थिति ऐसी नहीं है। वे अधिकतर शास्त्रपरक हैं। उदाहरण के लिए वैदिक धर्म के मूल आधार वेद हैं। इसी प्रकार ईसाई धर्म का मूल आधार बाइबिल, इस्लाम का कुरानशरीफ और पारसी धर्म का जिन्दावेस्ता है। जैनधर्म किसी एक शास्त्र अथवा आगम तक सीमित नहीं है। व्यक्तिपरक से अभिप्राय यह है कि अन्य अधिकतर धर्म व्यक्ति विशेष की वाणी से, आदेश या उपदेश के रूप में प्रकट हुए है। उदाहरण के लिए बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव भगवान बुद्ध से, ईसाई धर्म का ईसामसीह से, इस्लाम का हजरत मुहम्मद साहब से और पारसी धर्म का जरथ्रुष्ट से हुआ। जैनधर्म की स्थिति यह नहीं

है। वह किसी एक ही व्यक्ति विशेष की वाणी से प्रकट हुआ, आदेश या उपदेश नहीं है। चमत्कारपरक से तात्पर्य यह है कि अनेक धर्म अपने अनुयायियों को चमत्कारों के चक्र में उलझाये रहते हैं। उनमें सिद्ध पुरुषों की चमत्कारपूर्ण मोहमाया का जंजाल कुछ ऐसा फैला हुआ है कि साधारण बुद्धि मानव उनमें उलझ जाता है और जादू-टोना तथा तंत्र-मंत्र आदि में ही धर्म की इतिश्री मान बैठता है। जैनधर्म में ऐसे जंजाल का कोई स्थान नहीं है। वह एक मात्र लोकव्यवहार पर निर्भर है। वैदिक धर्म की परिणति जब ब्राह्मण धर्म के रूप में हुई, तब वह उस कर्मकाण्ड पर निर्भर रह गया। पुत्रैषणा वित्तैषणा तथा लोकैषणा आदि सब की पूर्ति के लिए यज्ञपरक कर्मकाण्ड का सहारा लिया जाने लगा। ब्राह्मणों के विविध प्रकार की यज्ञानुष्ठान में उन दैवी शक्तियों की कल्पना की गई, जिसके कारण उनको मानव की समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति का साधन मान लिया गया। इसी कारण गीता में श्रीकृष्ण ने भोगैश्वर्यप्रधान कर्मकाण्ड का भयानक रूप में निषेध किया और उन्होंने वेदों को उस कर्मकाण्ड का मूल मान कर उनका प्रतिवाद करने में भी तनिक सा संकोच नहीं किया। जैन धर्म में ऐसे कर्मकाण्ड का कोई स्थान नहीं है। कालपरक से अभिप्राय यह है कि अधिकतर धर्मों का प्रादुर्भाव कालविशेष तथा परिस्थिति विशेष में हुआ है। उनका महत्व भी काल विशेष तथा परिस्थिति विशेष तक ही सीमित है। वे कालातीत नहीं हैं और त्रिकाल की आवश्यकताओं की समानरूप से पूर्ति की उनमें क्षमता ही नहीं है। उनको एक कालिक कहा जा सकता है। वे त्रिकालिक नहीं है।

इसी प्रसंग में एक और दृष्टि से भी विचार करना अनुचित न होगा। ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियों में धार्मिक दृष्टि से जो बड़ा अन्तर है और जिसको महाभाष्यकार ने शाश्वत विरोध कहा है, वह उनके नाम से भी स्पष्ट है। "ब्राह्मण" शब्द का अभिप्राय ब्रह्मपरक कर्मकाण्ड पर निर्भर व्यवस्था से है और श्रमण शब्द श्रमपरक अथवा श्रम प्रधान व्यवस्था का बोधक है। श्रमण संस्कृति हर व्यक्ति के अपने जीवन व्यवहार पर निर्भर है, जब कि ब्राह्मण संस्कृति की सम्पूर्ण व्यवस्था व्यक्ति के अपने श्रम पर निर्भर न रहकर दूसरे के श्रम पर निर्भर होने से पराश्रित कही जा सकती है ब्राह्मण संस्कृति के अनुसार ब्राह्मण द्वारा किया गया कर्मकाण्ड दूसरे के लिए भी फलदायक हो सकता है। पुरोहित की व्यवस्था यजमान के लिए इसी हेतु से की गई है कि वह उसके लिए धर्म-कर्म का यथाविधि अनुष्ठान करता है। ब्राह्मण धर्म कर्म के लिए इस प्रकार दूसरों का एजेण्ट बन गया और दान-दक्षिणा आदि

लेकर दूसरों के लिए धर्म-कर्म करने में लग गया। इसी कारण ब्राह्मण का धर्म-कर्म धार्मिक अनुष्ठान की अपेक्षा धार्मिक व्यवसाय अधिक बन गया। ब्राह्मण को दी गई दान-दक्षिणा और मन्दिरों आदि पर चढ़ावे आदि के अनुपात से धर्म-कर्म का पुण्य प्राप्त होने की भावना बद्धमूल हो गई। ब्राह्मण ने धर्म-कर्म के अनुष्ठान की सारी जिम्मेवारी अपने पर लेकर शेष समाज को उस से विमुख कर दिया और स्वयं भी दान-दक्षिणा आदि पर निर्भर होने के कारण निठल्ला बन गया। यह निठल्लापन तब चरमसीमा पर पहुँच गया, जब धार्मिक व सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार जन्म की आकस्मिक घटना को मान लिया गया। "ब्राह्मणत्व" की प्राप्ति के लिए जब ब्राह्मण के घर में पैदा होना पर्याप्त समझ लिया गया, तब उसके सम्पादन करने के लिए किसी भी प्रकार का श्रम करने की आवश्यकता नहीं रही। शूद्र के घर में पैदा होने वाले के लिए कितना भी श्रम करने पर शूद्रत्व से छुटकारा पाना सम्भव न रहा। सारांश यह है कि ब्राह्मण धर्म की व्यवस्था में श्रम का महत्व नहीं रहा। इसके विपरीत श्रमण संस्कृति का मूल आधार वह श्रम है, जिसके द्वारा आत्म-विकास में संलग्न व्यक्ति अणुव्रतों और महाव्रतों का पालन करते हुए इसी जन्म में इसी तन के साथ भगवान पद की प्राप्ति कर सकता है। उसके लिए तन त्यागने के बाद ही मोक्ष प्राप्ति की अनिवार्यता नहीं है। लोकभाषा में यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म की मान्यता यह है कि 'जैसा करोगे, वैसा भरोगे'। अपने श्रम के अनुसार हर व्यक्ति को उसका परिणाम भोगना ही होगा। किसी भी कर्मकाण्ड द्वारा इस व्यवस्था को बदला नहीं जा सकता। हर व्यक्ति की आत्मसाधना उसके अपने श्रम पर निर्भर है। उसके लिए वह किसी दूसरे को दक्षिणा देकर कमीशन एजेण्ट अथवा ठेकेदार नहीं बन सकता। यह दोनों संस्कृतियों में मूलभूत अन्तर है और इसी को महाभाष्यकार पतंजलि की परिभाषा में शाश्वत विरोध कहा गया है।

## जैन धर्म की आत्म साधना

इस भावना को दूसरे शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि जैन धर्म आत्मसाधना प्रधान है। जिस 'जिन' शब्द से जैन शब्द का प्रादुर्भाव हुआ है उसका अर्थ है जितेन्द्रियता अथवा ब्रह्मचर्य, जो इन्द्रियजन्य विषय-वासना के अपरिग्रह की पराकाष्ठा है। गीता ने भी स्वीकार किया है कि "विषयाविनिवर्द्धन्ते निराहारस्य देहिनः" अर्थात आहार व्यवहार में नियन्त्रण रखने वाला ही इन्द्रियों के विषयों से मुक्त हो सकता है। आहार व्यवहार के

इस नियन्त्रण को गीता में निराहार कहा गया है। सब खान-पान तथा व्यवहार छोड़कर सर्वथा एकांत में सिर्फ हवा पर तो निर्भर नहीं रहा जा सकता, किन्तु जैन धर्म अथवा श्रमण संस्कृति के अनुसार महाव्रतों का पालन करते हुये अपरिग्रह स्थिति तो मानव के लिये असंभव नहीं है। अणुव्रतों द्वारा इस आत्म साधना का उपक्रम शुरू होता है और अन्त में महाव्रतों के माध्यम से वह चरम सीमा पर पहुँच सकता है। अपने को इस साधना में संलग्न करना ही जैन धर्म का व्यवहारिक रूप है और वही मानव के लिये अपने जीवन में ग्राह्य अथवा उपादेय है। भगवान महावीर समकालीन जितेन्द्रियता के लिए अपरिग्रह का महत्व समझने वाले अन्य भी "जिन" हुए हैं। परन्तु महावीर की चौदह वर्ष की अटूट तपस्या परम साधना का उच्चतम आदर्श उपस्थित करती है। इसी कारण उनको "भगवान" मानकर पूजा गया और यह भ्रान्त धारणा सामान्य जनता में घर कर गई कि जैन धर्म के प्रवर्तक भगवान महावीर हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आत्मसाधना का उच्चतम अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करके भगवान् महावीर ने श्रमण संस्कृति के परिष्कार की प्रक्रिया को चरमसीमा पर पहुँचा दिया और उनकी उत्कृष्ट जितेन्द्रियता अथवा अपरिग्रह की इस परम साधना के ही कारण धर्म के लिए जैन शब्द का व्यवहार प्रारम्भ हुआ। उनके काल में धर्म के इस नामकरण का अभिप्राय यह नहीं कि वे उसके प्रवर्तक हैं। वे तो २४ वें तीर्थंकर हैं। उसके पूर्ववर्ती २३ तीर्थंकरों द्वारा भी धर्मव्यवहार के परिष्कार की इस सांस्कृतिक प्रक्रिया को निरन्तर प्रश्रय मिलता रहा है। ऐतिहासिक सच्चाई और वास्तविक स्थिति यह है कि परिष्कार की यह प्रक्रिया जैन धर्म में भगवान महावीर के बाद भी निरन्तर चालू रही है और उससे जैन धर्म का निरन्तर जो निखार होता रहा, उसी के कारण वह दूसरों के घोर विरोध में भी टिका रहा और बौद्ध धर्म की तरह अपने देश में नामशेष नहीं हुआ। जैन धर्म और बौद्ध धर्म का यह तुलनात्मक अध्ययन बड़ा ही उपयोगी और महत्वपूर्ण है कि हमारे देश में इतने प्रबल वेग से चारों और फैलने वाला बौद्ध धर्म अशोक, कनिष्क तथा हर्ष सरीखे प्रतापी सम्राटों का प्रश्रय पाकर भी क्यों नाम शेष हो गया और जैन धर्म की स्थिति क्यों यथावत बनी रही? संक्षेप में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होना चाहिए कि जैनधर्म का रूप व्यावहारिक दृष्टि से निरन्तर साधना प्रधान बना रहा और उसके इस रूप का भगवान महावीर के बाद भी निरन्तर निखार होता रहा। २४ तीर्थंकरों द्वारा प्रश्रय प्राप्त उत्क्रान्तिमूलक परम्परा जैनधर्म में निरन्तर बनी रही और वह उसका निखार व परिष्कार करती

रही। स्थानकवासी और तेरापंथी शाखाओं के प्रादुर्भाव का मुख्य परियोजन उत्क्रान्तिमूलक उस परम्परा को ही जीवित रखना था। परन्तु बौद्ध धर्म की स्थिति इससे सर्वथा विपरीत रही। उसमें हीनयान, महायान, मंत्रयान और वज्रयान आदि शाखाओं का प्रादुर्भाव उसके व्यावहारिक रूप को निरन्तर विकृत ही करता गया। परिणाम यह हुआ कि लोक व्यवहार साधना-प्रधान न रहकर विषय वासना प्रधान बन गया और वह वैसे ही बौद्ध धर्म को ले डूबा, जैसे कि ब्राह्मण वर्ग को भोगैश्वर्य प्रधान कर्म काण्ड ले डूबा। इस प्रकार जैनधर्म के अस्तित्व का मुख्य आधार उसका साधना प्रधान जीवन व्यवहार है।

सांस्कृतिक प्रयोगों का सार

अन्त में संक्षेप में इतना ही कहना अभीष्ट है कि जैनधर्म का वर्तमान रूप मानव जीवन में युगों तक किए गए सांस्कृतिक प्रयोगों का सार अथवा निचौड़ है। उसको बिना किसी संकोच के परिवर्धनशील और इसलिए परिवर्तनशील भी कहा जा सकता है। यह एक मत से स्वीकार किया गया है कि जिस धर्म को भगवान महावीर के काल में जैन नाम दिया गया, वह उनसे पूर्व भी विद्यमान था और उसको अन्य नामों से पुकारा जाता था। भगवान नेमिनाथ और भगवान पार्श्वनाथ के काल में उसको निर्गन्थ नाम से पुकारा जाता था। उनके काल में निग्रन्थ धर्म में अहिंसा के साथ साथ तप और त्याग की भावना को अपरिहार्य महत्व प्राप्त हुआ। बाहरी त्याग और तपस्या को आत्मशुद्धि तथा आत्मोपम्य साम्य भावना की दृष्टि से जब पर्याप्त न समझा गया, तब आन्तरिक वृत्तियों पर विजय पाने की आध्यात्मिक भावना प्रबल हुई। भगवान महावीर ने इस अध्यात्म भावना को जीवन की साधना का प्रमुख अंग बना दिया और मानव की आन्तरिक प्रवृत्तियों पर पूर्ण विजय प्राप्त करने के आदर्श को मूर्त रूप दे दिया। व्रतों तथा महाव्रतों की दृष्टि से जिस धर्म को केवल चार व्रत तथा महाव्रत होने के कारण से भी चातुर्याम कहा जाता था, उसमें इस अध्यात्म भावना के कारण पाचवें व्रत तथा महाव्रत का समावेश हुआ और ये पाँचों व्रत तथा महाव्रत उसके मूलभूत आधार बन गए। अतः यह स्वीकार करना होगा कि धर्म के विकासक्रम में वे भावनाएँ समाविष्ट होती रहती हैं, जो उत्तरोत्तर प्रकट होती है और मूलभूत भावनाओं का विरोध न कर उनको प्रबल तथा सम्पुष्ट बनाने का ही काम करती है। धर्म विकास का सम्पूर्ण इतिहास इसका साक्षी है और जैन-धर्म का विकास क्रम भी उसका समर्थक है। इस विकास क्रम को उस पेड़ से उपमा दी जा सकती है जो अपने फूलों व फलों के विकास से उपयोगी एवं महत्वशाली बनता है।

**इतिहास की चेतावनी और चुनौती**

इस दृष्टि से यदि विचार किया जा सके, तो जैनधर्म के मूलभूत तत्वों की व्याख्या इस रूप में अवश्य ही की जानी चाहिए कि वे वर्तमान कालीन राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का सर्वसम्मत हल उपस्थित कर सकें। जो धर्म अपने मौलिक तत्वों द्वारा वर्तमान युग की मांग अथवा आवश्यकता की पूर्ति की सामर्थ खो बैठता है, उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। अन्य अनेक धर्मों का अस्तित्व इसी कारण खतरे में पड़ गया और इतिहास में वे नामशेष रह गया। इतिहास की यह एक चेतावनी अथवा चुनौती है। बौद्धधर्म तथा ब्राह्मण धर्म की तरह जैनधर्म पतनमुखी न होकर सदैव उत्क्रान्ति मूलक रहा है और उसका अस्तित्व युग-युगान्तरों की विनाशकारी परिस्थितियों में भी बना रहा है। इसी कारण इसको इतिहास की इस चेतावनी अथवा चुनौती पर समय रहते ध्यान देना ही चाहिये। स्पष्ट शब्दों में यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि जब समाज में धर्म से निराश होकर धर्मनिरपेक्ष भावना प्रबल हो रही है, तब जैनधर्म के अनुयायियों को यह सिद्ध कर देना चाहिये कि उनका धर्म विकासोन्मुखी होने के कारण सदा ही परिवर्धनशील रहा है, हर युग की मांग तथा आवश्यकता की उसने पूर्ति की है और आज भी उसमें 'राष्ट्रधर्म' की आवश्यकता को पूर्ति करने की क्षमता विद्यमान है।

साम्यता व क्षमा, अहिंसा और स्याद्वाद आदि आधारभूत सिद्धान्तों के सम्बन्ध में प्रस्तुत लेख में विचार नहीं किया गया है। सामायिक, साम्य भावना अथवा समाजवाद का अत्यन्त उत्कृष्ट एवं शाश्वत आध्यात्मिक रूप है। जैनधर्म का साम्यभाव या समाजवाद केवल मानव समाज तक सीमित नहीं है। प्राणिमात्र उसकी परिधि में समा जाते हैं। ब्राह्मण धर्म "नान्यःपन्था विद्यते अयनाय" अथवा "मामैकम् व्रज" के रूप में एकान्तवादी है जब कि जैनधर्म उसके सर्वथा विपरीत है। वह विपक्षी के लिए भी अपने ही समान गुंजाइश रखता है। यदि दूसरे की गुंजाइश रखकर जीवन व्यवहार किया जाय तो संघर्ष की संभावना नहीं रहती। एक नियत दिवस पर ज्ञात-अज्ञात भूलों अथवा अवज्ञाओं के लिए हार्दिक क्षमा-याचना, विश्वबन्धुत्व तथा विश्वशांति की नींव बन सकती है। इस प्रकार व्यवहारिक रूप में जैनधर्म की क्षमता असीम है। दुर्भाग्य यह है कि जैनधर्म के अभिमानी लोगों में ही विश्वास, श्रद्धा तथा निष्ठा की कमी उसकी क्षमता के लिये घातक सिद्ध हो रही है। इस वस्तुस्थिति को जितनी जल्दी समझा जा सकेगा, उतना ही हमारा कल्याण सुनिश्चित और सुरक्षित है।

# पंच परमेष्ठि पद निर्युक्ति

## ( मूलाचार एवं आवश्यक सूत्र संदर्भ में )

साध्वी डॉ. सुरेखा श्री

पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। वैदिक एवं श्रमण परम्परा में भी यह विधान चला आ रहा है। वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के लिए निघण्टु भाष्य रूप निरुक्त महर्षि यास्क ने लिखा। इधर जैन पारिभाषिक शब्दों के मर्म को उद्घाटित करने के लिए आगम-सूत्रों पर निर्युक्तियों की रचना भी की गई।

'अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु' इन पंच परमेष्ठि पदों के गूढ़ार्थ की अभिव्यक्ति के लिए, इन पंच-पदों को स्पष्ट करने के लिए, इन पर भी निरुक्ति लिखी गई। यद्यपि आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन पद दार्शनिक/धार्मिक क्षेत्र में सर्वत्र शब्दतः समान है तथापि जैनापेक्षया भिन्नता को निरुक्ति के माध्यम से दर्शाया गया हैं। अर्हन्त तथा सिद्ध ये दोनों पद जैन परम्परा विशेष रूप से मान्य करती है।

श्रीमद् वट्टकेराचार्य रचित मूलाचार ग्रन्थ के षडावश्यकाधिकार में आवश्यक की निर्युक्ति के प्रारम्भ में इन पंच पदों की निर्युक्ति उपलब्ध होती है। एवं श्रीमद् भद्रबाहु स्वामी जो कि निर्युक्तिकार ही हैं उन्होंने आवश्यक सूत्र पर निर्युक्ति की है। हालांकि 'आवश्यक सूत्र' तो षडावश्यक मूलक ही है, किन्तु 'मूलाचार' में भी षडावश्यक के अधिकार में इसकी चर्चा की है। इससे यह ज्ञात होता है षडावश्यक के ग्रहण से पूर्व नमस्कार-मंत्र का ग्रहण करना अनिवार्य है। अब इन दोनों ही ग्रन्थों के संदर्भ में पंच-पदों की निर्युक्ति पर हम दृष्टिपात करेंगे।

पंच पदों का प्रथम पद है—अर्हन्त। मूलाचार में अर्हन्त की निर्युक्ति करते हुए कहा है—

राग, द्वेष और कषायों को, पांच इन्द्रियों को, परीषह और उपसर्गों को जिन्होंने नाश किया है उन अर्हन्तों को नमस्कार हो।[1]

---

[1] राग-द्दोस-कसाए य इंदियाणि य पंच य।
परिसहे उवसग्गे णासयंतो णमोरिहा।
—मूला., ७.५०४

आवश्यक निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहू ने भी इसका समर्थन किया है।[२] दोनों ही ग्रन्थों में समान गाथा उपलब्ध है।

मूलाचार में इसकी निर्युक्ति/व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है—'जो नमस्कार के योग्य हैं, लोक में उत्तम देवों द्वारा पूजनीय हैं, आवरण और मोहनीय शत्रु का हनन करने वाले हैं, वे अर्हन्त कहे जाते हैं।'[३] आचार्य भद्रबाहू इस निर्युक्ति का विस्तार करते हुए कहते हैं—जो पाँच इन्द्रियाँ, विषय, कषाय, परीषह, वेदना और उपसर्ग इन अरियों—शत्रुओं का नाश करते हैं वे अरिहन्त कहलाते हैं।[४] आठ प्रकार के कर्म भी जीवों के शत्रु (अरि) जैसे हैं। उन कर्म रूपी शत्रु को नाश किया, इसलिए वे अरिहंत कहलाते हैं।[५] जो वंदन और नमस्कार के योग्य हैं, जो पूजा और सत्कार के योग्य हैं, जो सिद्धि प्राप्त करने में समर्थ हैं, वे अर्हन्त कहलाते हैं। जो देव, दानव और मनुष्यों में पूजा प्राप्त करते हैं, कर्म रूपी शत्रु को हनन करते हैं, उसी प्रकार बांधते हुए कर्म को भी जो छोड़ते हैं वे अरिहन्त कहलाते हैं।[६]

अर्हन्त-पद की निर्युक्ति/व्युत्पत्ति के साथ अर्हन्नमस्कार के फल का भी मूलाचार व निर्युक्तिकार ज्ञापन करते हैं—जो प्रयत्नशील भाव से अर्हन्त को नमस्कार करता है, वह अतिशीघ्र ही सभी दुःखों से छुटकारा पा लेता है।[७]

आवश्यक निर्युक्ति में इस भाव का विस्तार से कथन किया है—भाव से किया हुआ अर्हन्त को नमस्कार जीव को हजारों भवों से छुड़ाता है और पुनः वह बोधिलाभ के लिए होता है।[८] जब आत्मा बोधिलाभ को प्राप्त कर लेता है, तब इस अर्हन्नमस्कार से क्या होता है? वह कहता है—

'भव क्षय करते हुए धन्य ऐसे भव्य जीवों के हृदय को नहीं छोड़ता हुआ

---

२ राग-द्दोस-कसाए य इंदियाणि य पंच वि।
परीसहे उवसग्गे नासयंता नमोरिहा॥
—आव. नि., ९१८

३ मूला., ७.५०५

४ आव. नि., ९१९

५ वही, ९२०

६ वही, ९२१-९२२

७ मूला., ७.५०६

८ आव. नि., ९२३

अर्हन्नमस्कार अपध्यान को दूर करता है।'[९] इसका परिणाम क्या होता है? उसके लिए कहा गया है कि 'मृत्यु के समय जो सतत—अनेक बार अर्हन्नमस्कार किया जाता है, वह निश्चय ही महार्थक है।'[१०] परिणामतः यह अर्हन्त नमस्कार सर्व पाप का नाश करता है और सर्व मंगलों में प्रथम मंगल है।[११] इस प्रकार मूलाचार ग्रंथ में तथा आवश्यक सूत्र में अर्हन्त की निरुक्ति का निरूपण किया गया है।

अब द्वितीय सिद्ध पद की निरुक्ति करते हुए मूलाचार में कहा गया है कि—'यह जीव अनादिकाल से आठ कर्मों से सहित है। कर्मों के नष्ट हो जाने पर वह सिद्धत्व को प्राप्त करता है।[१२] अतः सिद्धि प्राप्ति की प्रथम शर्त है 'कर्म-क्षय'। कर्मों के समूल नष्ट हो जाने पर ही सिद्ध गति प्राप्त होती है। यही बात प्रकारान्तर से आवश्यक सूत्र में भी कही गयी है—प्रवाह की अपेक्षा से दीर्घकाल की स्थितिवाला जो बांधा हुआ आठ प्रकार का कर्म है, उस बांधे हुए कर्म को जो भव्य जीव ने ध्यान रूपी अग्नि से जला डाला है, उसे सिद्धत्व की प्राप्ति होती है।[१३] मूलाचार में सिद्धत्व की प्राप्ति के उपाय का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि 'शरीर चूल्हा है, इन्द्रियाँ बर्तन और मन लोहकार है। बाईस परीषहों के द्वारा जीव रूपी लोहे को तपाना चाहिये।'[१४] यहाँ ग्रन्थकारका आशय यह है कि बाईस परीषह रूपी अग्नि के द्वारा कर्मबन्ध को ध्वस्त कर देने पर चूल्हे रूप शरीर को छोड़कर और उपकरण रूप इन्द्रियों को भी छोड़कर निर्मल हुए जीव रूप स्वर्ण को ग्रहण करके, केवलज्ञान रूपी स्वर्णकार सिद्ध हो जाता है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने प्रसंगावशात् चौदह सिद्ध के प्रकारों का भी उल्लेख किया है।[१५]

सिद्ध भगवन्त की गति सिद्धि प्राप्ति के समय कैसी होती है? निर्युक्तिकार उसका दृष्टान्त के माध्यम से कथन करते हैं कि—जिस प्रकार मिट्टी के संग-

---

९ आ. नि., गा. ९२४

१० वही, गा. ९२५

११ वही, गा. ९२६

१२ मूला., ७.५०७

१३ आ. नि., गा. ९२८

१४ मूला., ७.५०८

१५ आ. नि., गा. ९२७

रहित होने पर तुंबे की, बन्धनोच्छेद होने पर एरंड फल की, तथाविध परिणाम से धूम्र तथा अग्नि की तथा पूर्व प्रयोग से धनुष से छूटे तीर की ऊर्ध्व-गति होती है, उसी प्रकार सिद्ध की भी ऊर्ध्व-गति होती है।[१६]

ऊर्ध्वगति होने पर सिद्धात्मा कहाँ प्रतिहत होती है? कहाँ प्रतिष्ठित होती है? इस शरीरको छोड़कर कहाँ सिद्ध गति प्राप्त होती है?[१७] इस गुत्थी का समाधान निर्युक्तिकार करते हैं कि सिद्धात्मा अलोक से प्रतिहत होती है, लोकाग्र भाग में प्रतिष्ठित होती है, यहाँ इस शरीर का त्याग करके वहाँ मोक्ष प्राप्त करती है।'[१८] इसी के साथ पुनः प्रश्न करते हैं कि सिद्धात्माएँ तो अनन्त हैं, उनका समावेश वहाँ किस प्रकार होता होगा? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि 'जहाँ एक सिद्ध है, वहाँ भवक्षय होने से मुक्त हुए अनन्त सिद्ध हैं। वे लोक के अन्त में परस्पर अवगाहन करते हुए, स्पर्श करते हुए रहते हैं। नियम से एक सिद्ध सर्व प्रदेशों के द्वारा अनन्त सिद्धों को स्पर्श करता है और जो इस प्रकार देश-प्रदेशों से स्पर्शित है, वह भी उससे असंख्यात गुणा है।'[१९]

निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने सिद्ध पद के साथ सिद्ध होने की प्रक्रिया, गति का उल्लेख तो किया ही है साथ ही सिद्धि गति, स्थिति, संस्थान आदि अनेक विषयों पर प्रकाश डालते हैं। सिद्धि गति कहाँ व कैसी है? इसका खुलासा करते हुए कहा है कि—ईषत्प्राग्भारा अथवा जिसका दूसरा नाम सीता है ऐसी सिद्धशिला पृथ्वी से एक सौ योजन ऊपर तथा सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर अवस्थित है।[२०] सिद्ध शिला के वर्ण तथा आकार के बारे में कहते हैं, 'वह सिद्ध शिला पानी के कण, बर्फ, गाय का दूध, मोती के हार जैसी श्वेत वर्ण वाली है तथा ऊँचे किए हुए छत्र के जैसी आकार वाली है।'[२१] उसका प्रमाण बताते कहा गया है कि 'सिद्ध शिला १ करोड़, ४२ लाख ३० हजार २४९ योजन अधिक प्रमाण वाली पृथ्वी है, मध्यभाग में

---

[१६] आ. नि., गा. ९५७

[१७] वही, गा. ९५८

[१८] वही, गा. ९५९

[१९] वही, गा. ९७५-९७६

[२०] वही, गा. ९६०

[२१] वही, गा. ९६१

८ योजन मोटी तथा चारों ओर किनारे से अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी पतली है।'[२२]

सिद्ध की अवगाहना का कथन करते हुए कहते हैं कि 'इस भव को छोड़ते समय यहाँ जो संस्थान होता है वही संस्थान मोक्ष में होता है। उसमें से तीन भाग न्यून सिद्ध की अवगाहना होती है।'[२३] सिद्ध का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि—शरीर रहित घनप्रदेश वाला, ज्ञान-दर्शन उपयोग वाला, सामान्य-विशेष पदार्थ को जानना-देखना, सिद्धों का लक्षण है।[२४]

सिद्ध की पर्याय का कथन करते हुए कहते हैं—सिद्ध, बुद्ध, पारगत, परम्परागत, उन्मुक्त कर्मकवच, अजर, अमर, असंग ये सब सिद्धके नाम हैं।[२५] वे सिद्ध अव्यावाध शाश्वत सुख का अनुभव करते हैं।[२६]

इस प्रकार सिद्ध पद का निर्वचन करके निर्युक्तिकार तृतीय आचार्य पद की निर्युक्ति करते हैं—सदा आचार वेत्ता है, सदा आचार का आचरण करते हैं और आचारों का आचरण कराते हैं इसीलिए आचार्य कहलाते हैं।[२७] भद्रबाहु सूरि आचारों का भी वर्णन करते हैं 'जो पंचविध आचार का आचरण, उपदेश तथा निर्देश करते हैं वह आचार्य हैं'।[२८] वट्टकेराचार्य इसी को और स्पष्ट करते हैं 'जिस कारण वे पाँच प्रकार के आचारों का स्वयं आचरण करते हुए शोभित होते हैं और अपने आचरित आचारों को दिखलाते हैं, इसी कारण से वे आचार्य कहलाते हैं।'[२९] भद्रबाहुसूरि ने नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव चार प्रकार के आचार्यों की भी प्ररूपणा की है।[३०]

---

२२ वही, गा. ६६२-६३

२३ वही, गा. ६७०

२४ वही, गा. ६७७

२५ वही, गा. ६८७

२६ वही, गा. ६८८

२७ मूला., ७ ५०६

२८ आव. नि., ६६४

२९ मूला., ७.५१०

३० आव. नि., ६६३

उपाध्याय पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं—'जिनेन्द्र देव द्वारा व्याख्यात द्वादशांग को विद्वानों ने स्वाध्याय कहा है। जो उस स्वाध्याय का उपदेश देते हैं वे इसी कारण से उपाध्याय कहलाते हैं।'[३१] भद्रबाहु सूरि भी इसी प्रकार ही निर्युक्ति को और स्पष्ट करते हैं—'उ' शब्द उपयोग करने के अर्थ में है और 'झा' शब्द ध्यान के निर्देश में है। इस प्रकार 'उज्झा' का उपयोग-पूर्वक ध्यान करने वाला यह अर्थ होता है। साथ ही नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, इस प्रकार उपाध्याय के प्रकारों का भी कथन करते हैं।[३२]

पंचम पद साधु की निर्युक्ति करते हुए कहते हैं—साधु निर्वाण के साधक ऐसे योगों में सदा अपने को लगाते हैं, सर्व जीवों में समताभावी हैं, इसलिए साधु कहलाते हैं।[३३] भद्रबाहु सूरि के अनुसार—विषय सुख से पीछे हटे हुए, निर्मल चारित्र रूपी नियम सहित, और तथ्य गुण को साधने वाला, हमेशा आत्मकार्य में उद्यम वाले साधु होते हैं।[३४]

इस प्रकार आवश्यक-सूत्र तथा मूलाचार ग्रन्थ में पंच पदों की निर्युक्ति की गई है। यद्यपि दोनों सूत्रों में अधिकांशतः समान रूप से निर्वचन दृष्टिगत होता है, तथापि भद्रबाहु स्वामी ने कुछ विस्तार के साथ कथन किया है। निर्युक्ति के साथ स्वरूप-लक्षण—प्रकारों का भी कथन किया है। यहाँ भद्रबाहु इस निर्युक्ति पर हुए आक्षेपों का खुलासा करते हैं। यह पंच परमेष्ठि को नमस्कारपूर्वक निर्युक्ति है, यह संक्षिप्त भी नहीं है और विस्तृत भी नहीं है। क्योंकि यदि संक्षिप्त कर दें तो सिद्ध एवं साधु दो से ही पूर्ण हो जाती, विस्तार में अनेक प्रकार की हो जाती। आक्षेप यह है कि इस प्रकार पाँच में ही इसका समावेश युक्त नहीं है। इसका निराकरण करते हुए कहते हैं कि अरिहन्तादिक सब नियम से साधु हैं। किन्तु अन्य सब को साधु में भजना है। अतः यह पाँच प्रकार उपयुक्त ही है।[३५]

---

[३१] मूला., ७.५११

[३२] आ. नि., गा. १०००-१००२

[३३] मूला., ७.५१२

[३४] आ. नि., गा. १०१२

[३५] आ. नि., गा. १०१८-१०१९

इस प्रकार मूलाचार में वट्टकेराचार्य एवं आवश्यक-सूत्र की निर्युक्ति में श्रीमद्भद्रबाहु सूरि ने इस पर विशेष प्रकाश डालकर पंच-पदों के स्वरूप को स्पष्ट किया है। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, इन पंच पदों के गूढ़ार्थ को निर्युक्ति के माध्यम से सुगम्य बना दिया है। यद्यपि अर्थ में, निर्वचन में समानता है तथापि कुछ विशेष अर्थ का प्रतिपादन किया गया है। इन पंच पदों को श्रद्धापूर्वक, भावपूर्वक नमस्कार करने के लिए व्युत्पत्तिपरक गूढ़ार्थ को जान लेने पर निर्युक्ति भावों के उद्रेक लाने में सहायक होती है। निश्चय से तो भावपूर्वक किया गया कार्य ही सफल होता है, द्रव्य से किया गया कार्य तो निरर्थक होता है। इस प्रकार यह निर्वचन भावोल्लास के लिए अनिवार्य है।

# त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

### श्री हेमचन्द्राचार्य

[ पूर्वानुवृत्ति ]

धरण का जीव वैजयन्त विमान से च्युत होकर चम्पा नगरी में चन्द्रच्छाया नामक राजा रूप से जन्मग्रहण किया। उसी नगर में अरहन्नक नामक एक जैन श्रेष्ठी रहते थे। वे वाणिज्य के लिए समुद्री यात्रा किया करते थे। एक बार जबकि वे समुद्री यात्रा पर थे शक्र ने एक दिन देव सभा में यह कहकर उनकी प्रशंसा की कि अरहन्नक जैसा श्रावक नहीं है। एक देव को इस पर विश्वास नहीं हुआ। अतः उनकी परीक्षा लेने के लिए मृत्यु लोक में उतरे और मेघ एवं चक्रवात वायु की सृष्टि की। नाविक भयभीत होकर सम्यक्त्वहीन देव-देवियों की शरण लेने लगे। किन्तु अरहन्नक ने सोचा इस संकट काल में यदि मृत्यु होती है तो मेरे लिए अनशन लेना उचित है।

एतदर्थ वे संसार के समस्त बन्धनों को छिन्न कर ध्यान में निमग्न हो गये। तब वे देव राक्षस का रूप धारण कर आकाश में स्थित रहकर उनसे बोले, अर्हत् धर्म परित्याग कर मेरी आज्ञा मानो। नहीं तो तेरे इस जहाज को खिलौने की तरह तोड़कर टुकड़ा-टुकड़ा कर दूंगा और तुझे और तेरे साथियों को जलजन्तुओं का आहार बना दूंगा।

इस भय प्रदर्शन पर भी जब अरहन्नक अविचल रहा तो वह देव विस्मित हुए और शक्र की प्रशंसा वाली बात सुनाकर उनसे क्षमा माँगी। उन्होंने अरहन्नक को कानों के दो जोड़ी कुण्डल दिए और वायु को शान्त कर चले गए।

कालान्तर में समुद्र यात्रा से लौटते समय अरहन्नक मिथिला गए। व्यवहार ज्ञाता अरहन्नक ने दो जोड़ी कुण्डलों में से एक जोड़ी कुण्डल राजा को भेंट किया। राजा ने वे कुण्डल तत्क्षण मल्ली को दिए और अरहन्नक को सम्मानित कर विदा दी। वहाँ से वाणिज्य कर अरहन्नक चम्पा आए और दूसरी जोड़ी कुण्डल वहाँ के राजा चन्द्रच्छाया को दिया। राजा ने उनसे पूछा, वणिक, ये कुण्डल आप को कहाँ से मिले? तब अरहन्नक ने बिना कुछ छिपाए कुण्डल प्राप्ति की सारी कथा कह सुनायी। अन्य जोड़ी राजा कुम्भ को देने के प्रसंग में उन्होंने मल्ली के सौन्दर्य की बात बतायी। बोले, मल्ली यदि मुँह उठाकर देखे तो चन्द्र परास्त होकर छिप जाए, उसकी

देह से जो दीप्ति निकलती है वह मरकत मणि को भी लज्जित करती है। उसके देह लावण्य की जो सरिता है उसके सामने जाह्नवी जल भी मैला लगता है। और आकृति ? ऐसी आकृति तो स्वर्ग की देवियों की भी नहीं होती। यदि उसे एक बार भी नहीं देखा तो उस पुरुष के तो नेत्र ही व्यर्थ है। जिसने विकसित कमल वन को नहीं देखा ऐसा हंस किस काम का ?

पूर्व जन्म की प्रीति के कारण चन्द्रच्छाया उसके प्रति आकृष्ट हो गए और मल्ली की पाणि-प्रार्थना करे दूत को कुम्भ के पास भेजा।

पूरण के जीव ने वैजयन्त विमान से च्युत होकर श्रावस्ती के राजा रूक्मी के रूप में जन्म ग्रहण किया। पत्नी धारिणी के गर्भ से उसके सुबाहु नामक एक कन्या हुयी। रूप में वह नागकन्या की तरह सुन्दर थी। एक बार सुबाहु का चातुर्मासिक स्नानोत्सव उसकी सहचरियों ने मनाया। विशेष स्नान के पश्चात् दिव्य रत्नाभरण धारण कर वह पिता को प्रणाम करने गयी। राजा ने उसे गोद में बैठाकर कंचुकी से पूछा—क्या तुमने ऐसा स्नानोत्सव कहीं अनुष्ठित होते देखा है ? कंचुकी ने प्रत्युत्तर दिया, आपके आदेश से जब मैं मिथिला गया था वहाँ राजा कुम्भ की कन्या मल्ली के जन्मोत्सव पर जिस उत्सव को अनुष्ठित होते देखा वह बहुत सुन्दर था। उस अनन्या का रूप ऐसा था, उसका यदि मैं पूर्ण वर्णन करूँ तो भी लगेगा कुछ कहा ही नहीं। वहाँ तो मेरा वाक्य ही प्रमाण है। अतः उस रमणी रत्न को देखने के पश्चात् मैंने अन्य रमणी के रूप का वर्णन न करने की शपथ ग्रहण कर ली है। उसकी तुलना में अन्य रमणियाँ परित्यक्त फूल-सी है। कल्पतरु के मुकुल के सम्मुख आम्र मुकुल का क्या मूल्य ?

ऐसा सुनकर पूर्व जन्म के स्नेह के कारण राजा रूक्मी ने मल्ली के पाणिग्रहण की प्रार्थना कर राजा कुम्भ के पास दूत भेजा।

वसु के जीव ने वैजयन्त विमान से च्युत होकर वाराणसी के राजा शंख के रूप में जन्म ग्रहण किया। एक बार अरहन्नक प्रदत्त मल्ली के वे कुण्डल टूट गए। राजा कुम्भ ने स्वर्णकार को उसे ठीक करने को दिया। उसने निवेदन किया, महाराज, इस अलौकिक कुण्डल को मैं ठीक नहीं कर सकता। इस पर क्रुद्ध होकर राजा कुम्भ ने उसे नगर से निष्कासित कर दिया। वह स्वर्णकार वाराणसी गया और राजा शंख से आश्रय मांगा। उसने अक्षत कुण्डल से लेकर मल्ली के रूप का भी वर्णन राजा के सम्मुख किया। कहने लगा मल्ली के मुख से चाँद की तुलना की जा सकती है। ओष्ठ से बिम्बफल की, कंठ से शंख की, बाहुओं से पद्मनाल की, कटि से वज्र के मध्य भाग की,

जंघा से कदली वृक्ष की, नाभि से नदी के आवर्त्त की, नितम्ब से दर्पण की, पैरों से हरिणी के पैरों की, करतल और पदतल से कमल की तुलना की जा सकती है। रूप वर्णन में जो उपमाएँ दी जाती हैं वे सभी उसके लिए प्रयोज्य है।

उसके रूप की कथा सुनकर पूर्वजन्म के स्नेह के कारण राजा शंख ने मल्ली के पाणि-ग्रहण की प्रार्थना कर राजा कुम्भ के पास दूत भेजा।

वैश्रवण के जीव ने वैजयन्त विमान से च्युत होकर हस्तिनापुर के राजा अदीनशत्रु के रूप में जन्म ग्रहण किया।

मल्ली के छोटे भाई मल्ल ने प्रमोदगृह के रूप में एक चित्रशाला निर्मित करवाई थी। वहाँ के चित्रकारों में एक ऐसा कुशल चित्रकार था जो देह के एक अवयव मात्र को देखकर उस व्यक्ति की हू-ब-हू आकृति चित्रित कर सकता था। एक बार यवनिका के अन्तराल से मल्ली के पैरों को देखकर उसने मल्ल की चित्रशाला में मल्ली की हू-ब-हू प्रतिकृति अंकित कर दी। सोचा अपूर्व सुन्दरी का चित्र देखकर राजकुमार प्रसन्न होंगे।

चित्रशाला निर्मित हो जाने पर मल्ल उसमें क्रीड़ा करने के लिए गया। वहाँ मल्ली के चित्र को सचमुच की मल्ली समझकर लज्जित हो गया और शीघ्र ही उस स्थान का परित्याग कर बाहर निकल आया। कंचुकी के पूछने पर मल्ल ने कहा, वहाँ मेरी बहिन मल्ली खड़ी है। मैं वहाँ कैसे प्रमोद करूँ? तब कंचुकी भीतर गयी और सब कुछ देखकर बाहर आकर बोली, कुमार वह आपकी बहन स्वयं मल्ली नहीं, उसका चित्र है। अतः आप जाइए। यह सुनकर युवराज ने क्रुद्ध होकर चित्रकार को शीघ्र बुलवाया और उसके दाहिने हाथ की तर्जनी और अंगूठा काटकर देश से निर्वासित कर दिया।

वही चित्रकार हस्तिनापुर गया और राजा अदीनशत्रु से इस प्रकार मल्ली के रूप का वर्णन किया—

आकाश में चन्द्रकला की भाँति मल्ली पृथ्वी की एक मात्र रूपसी है। ऐसी रूपसी न कभी जन्मी न कभी जन्मेगी। मल्ली को देखने के पश्चात् अन्य किसी रमणी को देखना इन्द्रनील मणि को देखने के पश्चात् काँच का टुकड़ा देखने जैसा है। रूप, लावण्य, गति, हावभाव में जिस प्रकार नदियों में जाह्नवी प्रथमा है उसी प्रकार रमणियों में मल्ली प्रथमा है। ऐसा कहकर उस कुशल चित्रकार ने राजा को मल्ली का चित्र दिखाया।

उस चित्र को देखकर राजा विस्मित हो गए और पूर्व जन्म के स्नेह के कारण मल्ली के पाणिग्रहण की प्रार्थना लेकर राजा कुम्भ के पास दूत भेजा।

अभिचन्द्र के जीव ने वैजयन्त विमान से च्युत होकर काम्पिल्य के राजा जितशत्रु के रूप में जन्म ग्रहण किया। धर्म के द्वारा आकृष्ट होकर मानों स्वर्ग की अप्सराएँ ही धरती पर आ गई है ऐसी धारिणी प्रमुख उनके एक हजार पत्नियाँ थीं।

एकबार मिथिला में चोक्षा नामक एक परिव्राजिका आयी और राजन्य एवं अभिजातों के घर-घर जाकर कहने लगी—दान ही धर्म का मूल है। तीर्थस्थानों में जलदान करने से स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होता है। यही एकमात्र सत्य है। उस नगरी तथा राज्य के अधिवासियों को इस प्रकार प्रतिबोधित करते-करते एक दिन वह राजकुमारी मल्ली के प्रासाद में गयीं। उसकी देह पर गैरिक परिधान थे, हाथ में त्रिदण्ड था। दर्भयुक्त कमण्डल से जल छिड़ककर वहाँ आसन बिछाकर वह बैठ गयी ।

अन्य लोगों को जैसे वह अपने धर्म का उपदेश देती थी मल्ली को भी उसी प्रकार उपदेश दिया। किन्तु मल्ली तीन ज्ञान की अधिकारी थी। अतः परिव्राजिका से कहा, एकमात्र दान ही धर्म का मूल नहीं होता है, तब तो कुत्ते बिल्लियों को खिलाना ही धर्म होता। तीर्थ स्थल का जल छिड़कने से ही कुछ पवित्र नहीं हो जाता, कारण उससे जीव हिंसा होती है। क्या रक्त से पोंछने से रक्त का दाग मिट जाता है? धर्म का मूल है विवेक। जहाँ विवेक नहीं है वहाँ धर्म नहीं है। अज्ञान कृत तप से देह-पीड़ा ही होती है, मोक्ष नहीं होता।

यह सुनकर चोक्षा लज्जित होकर नतमुखी हो गयी। यथार्थ वचन की अवहेलना कौन कर सकता है? उसकी वह अवस्था देखकर अन्तःपुर की दासियाँ भी उसका उपहास करती हुयी बोलीं—आप अपने मिथ्या मत से कब तक लोगों को भ्रमित करती रहेंगी?

तब चोक्षा ने मन ही मन सोचा, राज मद के गर्व से गर्वित होकर मल्ली ने मेरा अपमान किया है। इतना ही नहीं, दासियों ने भी मुझे जो चाहा सो कहा है। मैं इसका प्रतिशोध लूंगी। मैं मल्ली को बहुत-सी पत्नियों के मध्य डाल दूँगी जिससे वह मेरे अपमान का फल भोगेगी।

इस प्रकार सोचकर कुपित चोक्षा काम्पिल्य के राजा जितशत्रु के पास गयी। राजा ने उठकर उसे सम्मानित किया। राजा को आशीर्वाद देकर अपना आसन बिछाकर वह बैठ गयी। राजा और अन्तःपुरिकाओं द्वारा उत्साहित होकर उसने वहाँ भी धर्म का मूल दान और पवित्र जल सींचन का उपदेश दिया। जब राजा ने उससे पूछा, भगवती, आप तो पृथ्वी पर सर्वत्र

स्वच्छन्द विचरण करती हैं। बताइए मेरे अन्तःपुर में जितनी सुन्दर रमणियाँ है क्या उतनी सुन्दर रमणियाँ और कहीं है ?

चोक्षा हंसकर बोली, राजन्, आप तो उस कूपमंडुक की भाँति हैं इसीलिए ऐसा सोच रहे हैं कि आपकी अन्तःपुरिकाएँ ही सुन्दर हैं। मिथिला के राजा कुम्भ की कन्या मल्ली के सम्मुख ये कुछ नहीं हैं। वह हरिणनयनी रमणीकुल का रत्न है। उसकी अंगुलियों में भी जो सौन्दर्य है वैसा सौन्दर्य न देव कन्याओं में है, न नाग कन्याओं में। वह आकृति में जैसी अनन्य है वैसी ही रूप और लावण्य में। और अधिक क्या कहूँ ?

अपने पूर्वजन्म के प्रेम के कारण जितशत्रु ने मल्ली की पाणि-प्रार्थना कर राजा कुम्भ के पास दूत भेजा।

अवधि ज्ञान से मल्ली अपने पूर्वजन्म के छः मित्रों इन छः राजाओं के मनोभाव को अवगत कर अपनी एक स्वर्ण प्रतिकृति बनवाकर अशोक वन के प्रासाद के एक कक्ष में रत्नवेदी पर स्थापित करवा दी। उस प्रतिकृति के ओष्ठ थे मानिक के, केश इन्द्रनील मणि के, नेत्र इन्द्रनील मणि और स्फटिक के, हाथ और पैर प्रवाल के, पेट से तालु तक जुड़ी एक नली थी। तालु के छिद्र स्वर्ण कमल द्वारा आवृत और अंग प्रत्यंग थे सर्वाङ्ग सुन्दर। जहाँ मूर्ति रखी हुयी थी उसके सामने की दीवार पर मल्ली ने छः दरवाजे और छह जालीदार खिड़कियाँ बनवाईं। उन दरवाजे के पीछे छः पृथक-पृथक कक्ष बनवाए गए। और वह मूर्ति जहाँ रखी गयी थी उसके पीछे भी एक दरवाजा बनवाया गया। प्रतिदिन खाने के पूर्व मल्ली समस्त प्रकार के खाद्य का एक कौर बनाकर स्वर्ण कमल से आवृत तालू के छिद्र में डाल देती।

छः राजाओं के छः दूत प्रायः एक साथ मिथिला में उपस्थित हुए। पहले दूत ने निवेदन किया—साकेतपति प्रतिबुद्ध जिनके चरण कमल बहुत से सामन्त और नृपतियों के मस्तक से रगड़े जाते हैं, जो दीर्घबाहु, साहसी और रूप में मीनकेतु की तरह हैं, जो व्यवहार में चन्द्र की तरह, प्रभा में सूर्य की तरह, ज्ञान में बृहस्पति के तरह हैं आपकी अनिन्द्य सुन्दरी कन्या मल्ली के साथ विवाह करना चाहते हैं। कन्या तो किसी न किसी को दान करनी ही पड़ती है अतः साकेतपति को अपनी कन्या देकर उन्हें अपना आत्मीय बना लें।

द्वितीय दूत ने कहा—चम्पाधिपति चन्द्रच्छाया जिनकी भुजाएँ जुआ की तरह है, स्कन्ध प्रशस्त है, नेत्र प्रिय है, रूचि परिमार्जित है, जो बुद्धिमान और स्व-वाक्य पालन में दृढ़ है, युद्ध में पराक्रमी है, समस्त प्रकार के ज्ञान-विज्ञान

के वेत्ता हैं, अस्त्र प्रयोग में कुशल हैं और चन्द्र के समान प्रभा सम्पन्न हैं, वे मल्ली का हाथ ग्रहण करने को उत्सुक हैं। आप उन्हें मल्ली दान करें।

तृतीय दूत बोला—श्रावस्ती पति रूक्मि जो साधारण लोगों के लिए कल्प तरु हैं, योद्धाओं में श्रेष्ठ योद्धा हैं, शरणार्थिओं के लिए शरण्य हैं और साहसियों में प्रथम है, विजयरूपी लक्ष्मी के लिए जो क्रीड़ा निकेतन हैं वे आपकी कन्या के साथ विवाह करना चाहते हैं। हे राजन्, योग्य के साथ योग्य का मिलन करवाइए। योग्य क्या है यह आप जानते ही हैं।

चतुर्थ दूत बोला—काशी राज शंख जिन्होंने अपनी अलौकिक शक्ति से कुबेर को भी अतिक्रम किया है जो वाक्पटु हैं, रूप में कन्दर्प हैं, शत्रुओं के गर्व को जो खर्ब करनेवाले हैं; जो कि चारित्र पथ के पथिक हैं जिनकी आज्ञा पाकशासन की तरह पालित होती हैं; जिनका यश शंख की तरह धवल है वे आपकी कन्या का पाणिग्रहण करना चाहते हैं। आप सम्मति दीजिए।

पंचम दूत बोला—हस्तिनापुर पति अदीनशत्रु जो कि शक्ति में हस्तमल्ल की तरह लाघव हस्त हैं, दीर्घबाहु हैं, बहुयुद्ध विजयी हैं, विस्तृत वक्ष, बुद्धिमान, तरुण, यशरूपी लतिका के नव पल्लव रूप, गुणरूपी रत्नों में रोहण तुल्य हैं, जो दरिद्र और अनाथों के नाथ हैं, वे आपकी कन्या के पाणिग्रहण के लिए प्रार्थी है। हे विदेहपति आप उन्हें अपनी कन्या दान करें।

छट्ठा दूत बोला—हस्ती जैसे पर्वत को कम्पित नहीं कर सकता, उसी भाँति काम्पिल्यपति जितशत्रु को शत्रु कम्पित नहीं कर सकता। समुद्र जैसे बहुत सी नदियों द्वारा अलंकृत होता है उसी भाँति बहु सैन्य वाहिनियों से वे अलंकृत हैं। सुनासिरों की भाँति वे बहुत से सेनापतियों से परिवृत हैं, जिनके समस्त शत्रु पराभूत हैं ऐसे वे मेरे माध्यम से आपकी कन्या के लिए प्रार्थना कर रहे है। आप निःसंकोच होकर उन्हें अपनी कन्यादान करें।

उनकी बातें सुनकर राजा कुम्भ बोले, वे सब क्या धृष्ट दुराचारी और मूर्ख है और मृत्यु की आकांक्षा कर रहे हैं? देव तो क्या स्वयं शक्र भी त्रिलोक की सारभूता मेरे कन्या रत्न के योग्य नहीं हैं। ईर्ष्या परायण तुम्हारे राजाओं की इच्छा पूर्ण होने वाली नहीं है। अतः नीच कुल जात दूतगण, जाओ मेरे राज्य का परित्याग करो।

राजा कुम्भ द्वारा इस प्रकार अपमानित होकर छहों दूत शीघ्र अपने-अपने राज्य को लौट गये और क्रोधरूपी अग्नि को उद्दीप्त करने वाले राजा कुम्भ के वाक्य अपने-अपने प्रभु को सुनाए। छहों राजा समान रूप से अपमानित

होने के कारण परस्पर विचार विनिमय कर एक साथ मिथिला पर आक्रमण करने की योजना बनायी। शक्ति में दिक्पर्वत से वे छहों राजा पृथ्वी को सैन्य द्वारा आवृत कर युद्ध यात्रा करते हुए मिथिला में उपस्थित हुए। आगमन-निर्गमन का पथ अवरुद्ध कर सर्प जैसे चन्दन वृक्ष को आवेष्टित कर लेता है उसी प्रकार उन लोगों ने उस नगरी को चारों ओर से घेर लिया।

घेर लेने के फलस्वरूप नागरिकों की दुर्दशा से जब राजा कुम्भ चिन्तित हुए तब मल्ली एक दिन उनके पास आकर बोली, पिताजी आप क्यों चिन्तित हैं? राजा कुम्भ ने अपनी चिन्ता का कारण बताया। तब मल्ली बोली, आप गुप्तचरों द्वारा प्रत्येक राजा को अलग-अलग कहला भेजिए "मैं आपको मल्ली देना चाहता हूँ। तदुपरांत सन्ध्या समय उन्हें एक-एक कर गुप्त रूप से जहाँ मेरी प्रतिकृति रखी हुई है अलग-अलग छः कक्षों में ठहरा दें। राजा कुम्भ ने वैसा ही किया, छहों राजाओं ने वातायन की जाली से मल्ली की उस प्रतिकृति को देखा।

इस प्रतिकृति को साक्षात् मल्ली समझकर वे मन ही मन सोचने लगे इस मृगाक्षी को तो पुण्योदय से ही मैंने प्राप्त किया है। मल्ली ने उस प्रतिकृति के मस्तक का स्वर्ण कमलरूपी ढक्कन पर्दे की आड़ से खोल दिया। खोलते ही पूर्व डाले अन्न की सड़ी दुर्गन्ध जिसे कि नाक सहन न कर सके फैल गयी। वही गन्ध दरवाजे की जालियों से उनके कक्ष में प्रविष्ट हुयी। प्राणघातक उस गन्ध से जिस प्रकार शत्रु से भयभीत लोग दूर भागते हैं, उसी प्रकार नाक को वस्त्र से आवृत कर वे भी वहाँ से दूर भाग गये।

आप सब लौट क्यों रहे हैं?—मल्ली ने पूछा। उन्होंने उत्तर दिया, इस भीषण दुर्गन्ध को हम सहन नहीं कर पा रहे हैं। तब मल्ली बोली, वह स्वर्णमूर्ति है। उसमें प्रतिदिन डाला गया अन्न सड़कर दुर्गन्ध फैला रहा है। तब जो पिता के वीर्य और माता के रजः से उत्पन्न होता है उसके विषय में तो क्या कहूँ? भ्रूण से वह क्रमशः पूर्णांग होता है। मा के देह से उत्पन्न आहार और दूध पान कर वह पोषित होता है। जरायु के नरक में रहकर उसका शरीर मल-मूत्र के मध्य निवास करता है। इस प्रकार जो देह निर्मित होती है उसका मूल्य ही क्या है? वही शरीर तो अम्ल रक्त मांस चर्बी हड्डी मज्जा और मूत्र नाली से निर्गत शुक्र की तरह दूषित वस्तुओं का भंडार है। नगर नालियों की तरह वह दुर्गन्ध युक्त और कफादि वस्तु के लिए चमड़े की थैली विशेष है। अमृत वर्षा लवणाक्त मिट्टी पर पड़कर जैसे लवणाक्त हो

जाती है उसी प्रकार कर्पूरादि सुगन्ध द्रव्य द्वारा सुवासित देह चिता के सम्पर्क में आकर विशेष दुर्गन्धमय हो जाती है। इसलिए विवेकशील व्यक्ति की इस शरीर पर जो कि भीतर और बाहर से एक सा अशुद्ध है आसक्ति कैसे रह सकती है ? हे अज्ञानी, क्या तुमलोग को याद नहीं पूर्व के तीसरे भव में तुमलोग अपर महाविदेह में सलीलवती विजय में मेरे साथ तपस्या कर रहे थे।

मल्ली की बात सुनकर राजाओं को पूर्वजन्म का ज्ञान हुआ। अर्हतों की कृपा से क्या नहीं होता ? मल्ली ने जाली के दरवाजे खोल दिए तब वे छहों सम्बुद्ध राजा मल्ली के पास आए।

हमें स्मरण हो आया है कि पूर्व जन्म में हम सातों मित्र थे। और एक साथ प्रतिज्ञाबद्ध होकर एक-सी तपस्या करते थे। तुमने हमें यह स्मरण करवाकर बहुत अच्छा किया है। हम नरक जाने से बच गए हैं। अब हमारा क्या कर्तव्य है तुम्हीं बताओ कारण तुम्हीं हमारे गुरु हो।

ठीक समय पर मेरे निर्देशानुसार आप सब दीक्षा ग्रहण करेंगे ऐसा कहकर मल्ली ने उन सबों को विदा दी। वे भी अपने-अपने नगर को लौट गए।

तत्पश्चात् लोकान्तिक देवों ने मल्ली कुमारी के पास आकर प्रार्थना की, अब आप तीर्थ स्थापित करें। मल्ली ने भी जृंभक देवों द्वारा लाए द्रव्यों को एक वर्ष तक दान दिया। जब उनकी उम्र सौ वर्ष की हो गयी तब पच्चीस धनुष दीर्घ मल्ली के महाभिनिष्क्रमण का उत्सव राजा कुम्भ और देवेन्द्रादि द्वारा अनुष्ठित हुआ। जयंती नामक रत्न जड़ित शिविका में बैठकर मल्ली उद्यान श्रेष्ठ सहस्राम्रवन उद्यान में गयीं। मल्ली ने उस उद्यान में प्रवेश किया जिसके कुछ भाग में कृष्ण इक्षु का क्षेत्र था और कुछ भाग में शुक्ल पक्ष के चन्द्र की तरह श्वेत इक्षु का क्षेत्र था। उस उद्यान में कमला नीबू के पेड़ पर मानिक की तरह पके हुए कमला नीबू लटक रहे थे। वक पंक्तियों के कारण वह उद्यान नीलकान्त मणि का हो ऐसा भ्रम हो रहा था। पथिकगण कुएँ का जल थोड़ा-थोड़ा करके पी रहे थे और शीत के लिए नारी स्तनों की उष्णता जैसे वट वृक्ष की उष्णता में आश्रय ले रहे थे। वह उद्यान शीतलक्ष्मी के हास्य-सी प्रस्फुटित मल्लिका पुष्पों से अलंकृत था। मार्गशीर्ष मास की शुक्ला ग्यारस को चन्द्र जब अश्विनी नक्षत्र में अवस्थित था तब तीन उपवास के पश्चात् यथावत् उत्सव सहित मल्ली ने केशोत्पाटन कर प्रव्रज्या ग्रहण कर

ली। उसी समय मल्ली को मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ और उसी दिन अशोक वृक्ष के नीचे उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। देवों ने समवसरण की रचना की जिसके मध्य भाग में ३०० धनुष दीर्घ चैत्यवृक्ष स्थापित किया गया। मल्ली ने पूर्व द्वार से प्रविष्ट होकर चैत्यवृक्ष को प्रदक्षिणा दी और 'नमो तित्थाय' कहकर तीर्थ को नमस्कार किया। मल्लीनाथ के पूर्वाभिमुख होकर रत्नसिंहासन पर बैठने के पश्चात् व्यन्तर देवों ने तीन ओर उनका प्रतिरूप स्थापित किया। चतुर्विध संघ के यथास्थान अवस्थित होने पर कुम्भ और छः राजा शक्र के पीछे आकर बैठ गए। शक्र और राजा कुम्भ ने जगद्गुरु को वन्दना कर श्रद्धाप्लुत हृदय से आनन्दमना बने इस प्रकार स्तुति की—

संसार भय से भीत होकर जो आपको वन्दना करता है तो समझो भाग्योदय ही जैसे उसके ललाट पर आपके चरण नखरों की दीप्ति रूप सुरक्षा का तिलक अंकित कर देता है। जन्म से ही ब्रह्मचर्य पालन करने के कारण आप जन्म समय से ही दीक्षित हो गए थे। मुझे लगता है आपका जन्म मानो व्रत ग्रहण का पुनरावृत्ति रूप है। उस स्वर्ग से भी क्या प्रयोजन है जहाँ आपका दर्शन नहीं होता? आपके दर्शनों के कारण यह पृथ्वी उत्तम है। हे भगवन्, संसार भय से भीत मनुष्य, देवता और अन्य जीवों के लिए आपका समवसरण आश्रय और दुर्ग रूप है। आपके चरणों की वन्दना करने के अतिरिक्त अन्य कर्म मन्दकर्म या कर्मबन्धन और भव परम्परा की सृष्टि करता है। आपके ध्यान के सिवाय अन्य ध्यान मन्द ध्यान है कारण उस ध्यान में मकड़ी जिस प्रकार अपने ही बुने जालमें आबद्ध हो जाती है, जीव भी उसी प्रकार आबद्ध हो जाता है। आपके गुणों की कथा के अतिरिक्त अन्य कथा विकथा है। तितिर पक्षी के शब्द की तरह वह उसकी मृत्यु का कारण बनता है। हे जगद्गुरु, आपके चरण कमलों की सेवा से मेरा बार-बार जन्म लेने का अन्त हो एवं जब तक ऐसा नहीं हो जाता है तब तक जन्म-जन्म में आपकी भक्ति प्राप्त करूँ।

इस प्रकार स्तुति कर देवराज इन्द्र और नरकुंजर कुम्भ बैठ गए। तदुपरान्त मल्ली प्रभु ने सुनने को उत्सुक संघ को इस प्रकार देशना दी—

यह संसार रूपी समुद्र अपार होने पर भी पूर्णिमा के दिन जिस प्रकार समुद्र वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार राग द्वेषादि के कारण और बढ़ जाता है। जो जीव उत्तरोत्तर आनन्द प्रदानकारी समता जल में स्नान करते हैं उनका राग-द्वेष रूपी मैल धुल जाता है। जो कर्म कोटि जन्म तक कठोर

तपस्या करने पर भी नष्ट नहीं होता वही कर्म समता का अवलम्बन लेने पर क्षण मात्र में विनष्ट हो जाता है। जीव और कर्म दोनों मिलकर जब एक रूप हो जाते हैं तो साधुजन ज्ञान द्वारा उसे अवगत कर समता शलाका द्वारा उन्हें पृथक् कर देते हैं। योगी पुरुष सामायिक रूपी किरण से रागादि रूप अन्धकार को क्लिष्ट कर स्व परमात्म स्वरूप का दर्शन करते हैं।

जिन प्राणियों के स्वार्थ के कारण नित्य और जाति बैर रहता है ऐसे प्राणी भी समता सिद्ध प्राणी के निकट आकर पारस्परिक द्वेष-भाव भूल जाते हैं। समता उसी विशिष्ट आत्मा में निवास करती है जो चेतन और अचेतन किसी भी वस्तु पर इष्ट अनिष्ट का विचार कर मोहित नहीं होते। उनमें उत्तम समता अवस्थान करती है जिनके हाथ पर गोशीर्ष चन्दन विलेपन करने पर या हाथ काट डालने पर मनोवृत्ति में कोई भेद उत्पन्न नहीं होता। जो उनकी प्रशंसा करे और जो क्रोधान्ध होकर उन्हें गाली दे दोनों के प्रति ही जो प्रीति परायण हैं, समता उनमें रहती है।

यदि समता का अवलम्बन ग्रहण कर लें तो उसे न यज्ञ की आवश्यकता है, न प्रार्थना की, न तप की, न जप की, न दान की ; वह तो बिना मूल्य के ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। एतदर्थ बिना प्रयत्न के सहज रूप में सुखकारी समता धारण करना सबका कर्तव्य है। स्वर्ग और मोक्ष सुख को तो परोक्ष कहकर उसको अस्वीकार किया जा सकता है किन्तु समता सुख तो प्रत्यक्ष है। अतः कोई अनात्मवादी भी इसे अस्वीकार नहीं कर सकता। कविगण जिसे ब्रह्मानन्द कहते हैं और जो रूढ़ हो गया है उस पर मुग्ध होने की जरूरत नहीं है। किन्तु जो आनन्द इस अनुभव में आता है उस समता रूपी अमृत का निरन्तर पान करने में बाधा क्या है? गले में कोई साँप डाले या पुष्पमाला पहनाए इन पर जिन्हें विराग या राग नहीं है वे समता के अधीश्वर हैं। समता ऐसा गूढ़ विषय नहीं है जो समझ में नहीं आए और न ही इसके लिए भाषा-टीका की आवश्यकता है। जो सहज और सरल ज्ञान सम्पन्न है, समता उनके लिए भवराग से मुक्त होने के लिए औषधि रूप है। राग-द्वेष दमनकारी योगियों में भी ऐसे क्रूर कर्म है जो समता रूपी शस्त्र नष्ट करते हैं। समता का परम प्रभाव तो यह है कि पापी भी यदि समता ग्रहण करें तो क्षणमात्र में ही शाश्वत पद प्राप्त कर सकते हैं। समता रहने पर ही सम्यक ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी त्रिरत्न फल प्रदान करता है। समता न रहने पर सम्यक ज्ञानादि त्रिरत्न भी निष्फल हो जाते हैं। जब नाना-विध उपसर्ग आकर उपस्थित होता है अथवा मृत्यु, उस समय समता श्रेष्ठ

ही अवलम्बनीय है। इसीलिए समता जो मोक्ष रूपी वृक्ष का एकमात्र बीज है और अनुपम सुख प्रदानकारी है वह राग-द्वेष को जय करने वाले के लिए अवश्य ही अवलम्बनीय है।

इस देशना को सुनकर उन छहों राजाओं ने दीक्षा ग्रहण कर ली और उनके माता-पिता ने श्रावक धर्म अंगीकार कर लिया। मल्ली प्रभु के भीषक आदि २८ गणधर हुए। मल्ली प्रभु की देशना के पश्चात् गणधर भीषक ने देशना दी। दूसरे दिन उसी उद्यान में राजा विश्वसेन से खीर ग्रहण कर प्रभु ने पारणा किया। इन्द्रादि देव और कुम्भादि राजा भगवान के चरणों में वन्दना कर स्व-स्व निवास को लौट गए।

उनके तीर्थ में शासन देव के रूप में इन्द्रधनुष वर्ण के चतुर्मुख गजवाहन कुवेर नामक यक्ष उत्पन्न हुए। उनके चार दाहिने हाथों में से एक हाथ वरद मुद्रा में था, दूसरे हाथ में कुठार, तीसरे हाथ में त्रिशूल और चौथा हाथ अभय मुद्रामें था। बायीं ओर के एक हाथमें बीजोरा नींबू, दूसरे में भाला, तीसरे में हथौड़ी और चौथे हाथ में अक्षमाला थी। इसी भाँति शासन देवी के रूप में उनके तीर्थ में कृष्णवर्णा पद्मासना वैरोट्या देवी उत्पन्न हुयीं। उनके दाहिनी ओर के दो हाथों में से एक हाथ वरद मुद्रा में था। दूसरे हाथ में थी अक्षमाला। बायीं ओर के एक हाथ में विजोरा नींबू और दूसरे हाथ में भाला था।

भव्य जीवों के उद्धार के लिए प्रभु ग्राम, नगर, खान आदि समस्त पृथ्वी पर विचरण करने लगे। उनके साथ ४०००० साधु, ५५००० साध्वियाँ, ६६८ पूर्वधर, २२०० अवधिज्ञानी, १३५० मनःपर्याय ज्ञानी, २२०० केवली, २८०० वैक्रिय लब्धिधारी, १४०० वादी, १८३००० श्रावक, ३७०००० श्राविकाएँ थीं। इस प्रकार वे ३०० वर्ष कम ५५००० वर्षों तक पृथ्वी पर विचरण करते रहे।

अपना निर्वाण समय ज्ञात कर मल्ली प्रभु ५०० साधु और ५०० साध्वियों के साथ सम्मेत शिखर पधारे। एक मास के उपवास के पश्चात् फाल्गुन शुक्ला दशमी को चन्द्र जब भरणी नक्षत्र में अवस्थित था ५०० साधु और ५०० साध्वियों सहित प्रभु ने निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् अरनाथ के ५००० करोड़ वर्षों पश्चात् मल्ली प्रभु ने निर्वाण प्राप्त किया। समस्त दिशाओं से इन्द्रादि देव आकर उपस्थित हुए और उनका निर्वाण महोत्सव उद्यापित किया।

षष्ठ सर्ग समाप्त

[ क्रमशः

# संकलन

।। देश में आज उलटी गंगा बह रही है ।।

हमारे देश का जीवन सदा स्वच्छ इसलिए रहा है कि यहाँ का आहार-विहार, रहन-सहन सब सात्विक था। सदा साधु-सन्त विचरण करते थे जो सात्विक जीवन के निर्माण में योगदान करते थे। मद्य मांस से वे न केवल स्वयं बचते थे वरन् अपने भक्तों को भी बचाते थे। ऐसे साधु भी विरल हो गये और जो हैं उनपर आस्था नहीं रही हैं; फलतः देश का नैतिक धरातल दिन पर दिन गिरता जाता है। देश की भावी पीढ़ी का निर्माण ऐसा नहीं हो रहा है जो आशाजनक हो। देश में ऐसी उलटी गंगा बह रही है जो इस देश की प्रगति के एकदम प्रतिकूल है।

समाचार के अनुसार लन्दन में विशुद्ध शाकाहार रेस्तरां है और उनमें ग्राहकों की भीड़ लगी रहती है। शाकाहार वाले खाद्य पदार्थ बेचने का काम करने वाली दुकानें सर्वत्र खुलती जा रही हैं। भारत के कुशल व्यवसायी भारतीय निरामिष खाद्य पदार्थों की सप्लाई यूरोप को करके धन कमा रहे हैं। और इधर भारत में जगह-जगह मांस की दुकानें खुलेआम स्थापित हो रही हैं। भारत में कसाई-खाने स्थापित किये जा रहे हैं, जिनसे मांस की पैदावार बढ़े। विदेशों को मांस-निर्यात करके विदेशी मुद्रा कमाने की चिन्ता हमारे राष्ट्रनायकों को सदा सताती रहती है। यह उलटी गंगा नहीं तो क्या है?

देश में गोवध-निषेध आन्दोलन वाले धार्मिक श्रद्धावश गोहत्या को रोकना चाहते हैं; किन्तु देश में ही क्यों हिन्दू जाति में बढ़ते हुए मांसाहार को रोकने का प्रयत्न नहीं करते? मांस के लिए गौ को न मारने और शेष पशुओं को मारने से तो गौ का संरक्षण नहीं हो सकेगा, गौरक्षण के लिए यह भी आवश्यक है कि गौरक्षण समिति हिन्दू जाति में बढ़ते हुए मांसाहार को भी रोकें। इससे अन्य पशु सुलभ होने से गौमांस भोजी गौहत्या से विरक्त हो सकेंगे।

पशुहत्या कोई अच्छी चीज नहीं है। किसी की जान अपना पेट भरने के लिए ले लेना मनुष्य को नृशंस बनाता हैं। देश-नेता तो स्वार्थ के पीछे अन्धे हो रहे हैं, उन्हें जब जनता का ही ध्यान नहीं है, तब बेचारे निरीह

पशुओं की तो बात ही क्या है ! आज के समय में मनुष्यों का जीवन ही असुरक्षित बन गया है ।

…इसलिए आवश्यक तो यही है कि देश में धर्म प्रचार करने का बीड़ा उठाया जाए, इसमें किसी धर्म-विशेष की भी बात नहीं आती और वैसे यह आज के युग में एक बड़ा धर्म है । मांस खाकर धर्म की चर्चा करने की क्या तुक है ! जब खानपान सुधरे, तो विचारधारा भी सुधरे । मगर धर्म के विचार से ही नहीं, स्वास्थ्य के विचार से भी निरामिष भोज्य उपादेय है ।

—स्व० पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री

तीर्थंकर, मई १९९१

# जैन पत्र-पत्रिकाएँ—कहाँ/क्या

तीर्थंकर ॥ जुलाई १९९१

संपादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'ब्रह्मचर्य और मैं' ( सुरेन्द्र बोथरा ), 'एक अपूर्व संथारा जिसने राष्ट्र की अखण्डता और धर्म निरपेक्षता को प्रशस्त किया' (राजेन्द्रमल कुम्भट), 'श्रावक कौन ?' ( पुखराज भण्डारी ), 'क्रूरता और अन्धविश्वास के खिलाफ एक सफल युद्ध' ( लीलावती जैन ), 'क्या अण्डा शाकाहार है ?' (युवाचार्य महाप्रज्ञ), 'उत्सव/जयन्ती के माध्यम से जैन जागरण' ( डा० निजामुद्दीन ), 'जैन पत्रकारिता : नये क्षितिज' ।

तुलसी प्रज्ञा ॥ अप्रैल-जून १९९१

संपादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'अनन्त के अनन्त भेद' ( नानालाल ज० रूनवाल ), 'आचार्य हरिभद्र सूरि का काल संशोधन' ( डा० परमेश्वर सोलंकी ), 'वीर निर्वाण काल' ( उपेन्द्रनाथ राय ), 'उपाध्याय यशोविजय कृत पातंजल योग सूत्रवृत्तिमें वर्णित जैन कर्म सिद्धान्त' (डा० अरुणा आनन्द), 'हांसी की विरल जैन मूर्त्तियाँ' ( डा० भूपसिंह राजपूत ), 'सम्राट समुद्र गुप्त और उसका राजवंश' ( डा० देव सहाय त्रिवेद ), 'Jainism : An Old Independent Religion' ( Dr. N. K. Dash ), 'Jaina Sources for the History of Nagpur' ( V. C. Jain ).

प्राकृत विद्या ॥ जनवरी-मार्च १९९१

इस अंक में है 'प्रायश्चित तप का वैशिष्ट्य' (कमला योशी), 'नियमसार का अन्तस्तल' ( लक्ष्मी चन्द्र सरोज ), 'धरती क्षमा के सहारे टिकी है' ( डा० राजेन्द्र रंजन ), 'अर्ध मागधी भाषा में न्ट—न्न या ण्ण' ( डा० के० आर० चंद्र ), 'संस्कृत के जैन नारी चरित काव्य' (कल्पना जैन)।

# LODHA MOTORS

A House of Telco Genuine Spare Parts and
Govt. Order Suppliers.
Also Authorised Dealers of Pace-setter and
Nicco Batteries in Nagaland State.

GOLAGHAT ROAD, DIMAPUR
NAGALAND

Phone : 3039, 3174

---

# The Bikaner Woollen Mills

Manufacturer and Exporter of Superior Quality
Woollen Yarn, Carpet Yarn and Superior
Quality Handknotted Carpets

*Office and Sales Office :*

**BIKANER WOOLLEN MILLS**

Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phones : Off. 3204
Res. 3356

*Main Office :*

**4 Meer Bohar Ghat Street**
**Calcutta-700007**
Phone : 38-5960

*Branch Office :*

**Srinath Katra : Bhadhoi**
Phone : 5378
5578, 5778

WB/NC-253

**Vol. XV No. 4** **TITTHAYARA** **August 1991**

Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 24582/73